निषेध का निषेध पर कुछ और*

'लाल सलाम' के अंक-29 में हमने 'निषेध का निषेध : एक परम्परागत प्रस्तुति' नामक लेख में द्वन्द्ववाद के बारे में मार्क्सवाद की शास्त्र सम्मत परम्परा से कुछ विस्तृत उद्धरण दिये थे। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन, माओ (साथ ही अतिरिक्त तौर पर प्लेखानोव और हेगेल) के इन विस्तृत उद्धरणों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य दो सवालों पर रोशनी डालना था। ये सवाल थेः (1) द्वन्द्ववाद के नियमों में निषेध का निषेध का क्या स्थान है तथा, (2) द्वन्द्ववादी पद्धति क्या है? उस लेख में हमने स्वयं को विस्तृत उद्धरणों के बीच कुछ टिप्पणियां जोड़ने तक सीमित रखा था।

उसी लेख की निरंतरता में प्रस्तुत इस लेख में हम उपरोक्त दोनों सवालों पर अपनी ओर से कुछ और बात रखेंगे तथा इस सवाल पर विचार करेंगे कि हमारी आज की समस्याओं के संदर्भ में 'मार्क्सिस्ट इंटलेक्शन' के विचारों का क्या निहितार्थ है? निषेध का निषेध के बारे में उनकी सोच उन्हें कहां ले जाती है?

I
विज्ञान और दर्शन

मार्क्सवादियों (मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा को मानने वालों) के बीच यह बात स्थापित है कि मार्क्सवाद एक विज्ञान है। उसी तरह यह बात भी स्थापित है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सर्वहारा का दर्शन है। इसे सर्वहारा का विश्व दृष्टिकोण भी कहा जाता है। इन सबके बीच क्या सम्बन्ध है? साथ ही यह कि इनका हमारी बहस के मुद्दे से क्या सम्बन्ध है?

एंगेल्स ने **ड्यूहरिंग मत खण्डन** में निषेध का निषेध पर चर्चा करते हुए यह बात कही थी :

> "... ... यह आधुनिक भौतिकवाद, यह निषेध का निषेध, केवल पुराने भौतिकवाद की पुनर्स्थापना नहीं है, बल्कि वह पुराने भौतिकवाद की स्थाई एवं मूल स्थापनाओं में दर्शनशास्त्र और प्रकृति विज्ञान के दो हजार वर्षों के विकास को और साथ ही इन दो हजार वर्षों के विचारांश को जोड़ देता है। अब यह दर्शन शास्त्र हरगिज नहीं रह जाता, बल्कि अब तो यह एक विश्व दृष्टिकोण हो जाता है, जिसे सब विज्ञानों से अलग खड़े हुए विज्ञानों के विज्ञान के रूप में अपनी मान्यता को स्थापित नहीं करना है, बल्कि जो सकारात्मक विज्ञानों के रूप में अपनी मान्यता को स्थापित करता है और उन्हीं में प्रयुक्त होता है। अतः यहां दर्शनशास्त्र का 'ऊर्द्धपतन' हो जाता है, अर्थात उस पर काबू पा लिया जाता है, और जहां तक उसके वास्तविक सार का संबंध है, वह कायम रहता है।" ('लाल सलाम' के अंक-29 में पृष्ठ-10-11 पर उद्धृत)

और भी आगे :

> "... ... किन्तु द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव समाज तथा चिन्तन की गति एवं विकास के सामान्य नियमों के विज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है। (वही पृष्ठ-11 पर उद्धृत)

इन्हीं बातों को एंगेल्स **लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत** नामक अपनी रचना में इस तरह कहते हैं।

> " ... ... इस प्रकार द्वन्द्ववाद वाह्यजगत और मानव चिंतन दोनों की गति के आम नियमों का विज्ञान बन गया-इन नियमों के दो समूहों का सार एक है, पर इस माने में उनकी अभिव्यक्तियां भिन्न हैं कि मानव मस्तिष्क इनका चेतन रूप से उपयोग कर सकता है, जबकि प्रकृति में-और अभी तक मानव इतिहास में भी-ये नियम अचेतन ढंग से, वाह्य आवश्यकता के रूप में, आकस्मिक प्रतीत होने वाली परिघटनाओं के एक अनन्त क्रम के मध्य अपने को अभिव्यक्त करते हैं। इस तरह विचारों की द्वन्द्वात्मकता स्वयं वास्तविक जगत की द्वन्द्वात्मक गति का चेतन प्रतिक्षेप मात्र बन गयी और हेगेल का द्वन्द्ववाद उलट दिया गया, या यूं कहिये कि उसे सीधा करके पैरों के बल खड़ा कर दिया गया, क्योंकि पहले वह सिर के बल खड़ा था। ... ..."
> (फ्रेडरिक एंगेल्स, लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अंत, कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएं तीन खण्डों में, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978, खण्ड-3 भाग-2, पृष्ठ-245-46)

और आगे :

> "... ... ... पर जिस तरह प्रकृति की द्वन्द्वात्मक धारणा पूरे प्रकृति दर्शन को अनावश्यक और असम्भव बना देती है, उसी तरह उपरोक्त धारणा (ऐतिहासिक भौतिकवाद-लाल सलाम) इतिहास के क्षेत्र में दर्शन का खात्मा कर देती है। अब प्रश्न यह नहीं है कि हम अंतः सम्बन्धों का अपने मस्तिष्क से आविष्कार करें, प्रश्न अब यह है कि उन्हें स्वयं तथ्यों के अंदर ढूंढ़ा जाये। दर्शन के लिए, जो प्रकृति और इतिहास से निर्वासित हो चुका है, केवल एक ही, विशुद्ध चिन्तन का क्षेत्र बच रहता है, जहां तक वह बचा रहता है-स्वयं चिन्तन प्रक्रिया के नियमों का सिद्धान्त, तर्कशास्त्र और द्वन्द्ववाद।"
> (वही, पृष्ठ-261)

द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव समाज तथा चिन्तन की गति एवं विकास के सामान्य नियमों के विज्ञान के सिवा और कुछ नहीं है और भौतिकवादी द्वन्द्ववाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विज्ञानों के विज्ञान के रूप में दर्शन का खात्मा कर देता है तथा यदि दर्शन का कुछ बचा रहता है तो वह है तर्कशास्त्र और द्वन्द्ववाद। ऐसे हैं एंगेल्स द्वारा प्रस्तुत निष्कर्ष।

प्राचीन काल से लेकर, जब प्रकृति, मानव समाज तथा मानव की चिंतन क्रिया के बारे में मनुष्य की समझदारी बहुत कम थी, आधुनिक काल तक, जब प्रकृति विज्ञान का तेजी से विकास हुआ, दर्शन उन सवालों के जवाब देने का प्रयास करता था जो सभी विज्ञानों द्वारा अनुत्तरित रहते थे। खासकर वह प्रकृति व मानव की मूलभूत सत्ता (विश्व शास्त्र) तथा मानव चिंतन या मानव ज्ञान की प्रकृति व प्रक्रिया (ज्ञान शास्त्र) के बारे में उन सवालों को संबोधित करता था जो विशिष्ट विज्ञान हल नहीं कर पाते थे या फिर जिनके द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं की सीमाएं होती थीं। दर्शन कई बार विभिन्न विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं का सामान्यीकरण भी करने का प्रयास करता था। अपनी इस भूमिका में दर्शन विज्ञानों के विज्ञान के रूप में प्रकट होता था।

ऐसा होना स्वाभाविक था। विभिन्न विज्ञानों का विकास या तो अभी शैशवावस्था में था या फिर नदारद। केवल आधुनिक काल में ही जाकर प्रकृति विज्ञान के कुछ क्षेत्रों में इतनी प्रगति हो सकी कि प्रकृति की संरचना और गति के बारे में रहस्य उद्‌घाटित हो सकें। ऐसे में प्रकृति और मानव समाज व चिंतन के बारे में कुछ मूलभूत सवाल, जो बहुत शुरूआती दौर में ही सामने आ गये थे और जिनका सामने आना लाजिमी था, विशिष्ट विज्ञानों द्वारा हल नहीं किये जा सकते थे। इन सवालों के जवाब तब विज्ञानों से परे ही दिये जा सकते थे और इन्हें देने वाली ज्ञान की शाखा यानी दर्शन स्वतः ही विज्ञानों से ऊपर हो जाती थी।

पर अब ऐसा नहीं है। विभिन्न विशिष्ट विज्ञानों की आधुनिक प्रगति ने (कहने की बात नहीं कि वह समूची मानव सभ्यता के विकास के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है और उसका परिणाम है) कुछ ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत किये जिनके आधार पर प्रकृति और मानव के बारे में सभी सवालों के प्रति सही पहुंच तक पहुंचना संभव हो गया। और तब पाया गया कि प्रकृति, मानव समाज तथा चिंतन में मूलतः एक ही सामान्य नियम काम करते हैं। ऐसा इसलिए कि इन तीनों की मूलभूत एकता है। वे एक की ही तीन अभिव्यक्तियां हैं। वह एक है चिंतन से परे विश्व का भौतिक तौर पर अस्तित्वमान होना तथा चिंतन का इसका एक उत्पाद होना, इसकी एक अभिव्यक्ति होना। इसी एक भूत की गति के विभिन्न रूप विभिन्न विज्ञान हैं। और चूंकि स्वयं चिंतन भी इसी भूत की अभिव्यक्ति है, बाहरी दुनिया का मानव मस्तिष्क में प्रतिबिंब है इसलिए इस चिंतन के आम नियम भी अपने सामान्य रूप में वही हैं। ये सामान्य नियम हैं-द्वन्द्ववाद के नियम।

ऐसे में भूत की गति के विभिन्न रूपों का अध्ययन विभिन्न विज्ञानों का विशिष्ट क्षेत्र बन जाता है। इन रूपों का ठोस अध्ययन उनमें कार्यरत विशिष्ट नियमों को सामने लाता है। गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान इत्यादि भूत की गति के अलग-अलग स्तरों के विशिष्ट नियमों को उद्‌घाटित करते हैं। इसी तरह राजनीतिक अर्थशास्त्र सामाजिक उत्पादन के विशिष्ट नियमों को उद्‌घाटित करता है।

जब भूत की गति के विभिन्न रूपों की आम प्रकृति पर विचार करते हैं, जब इनमें कार्यरत नियमों की आम प्रकृति को देखते हैं तो पाते हैं कि वे कुछ सामान्य नियमों में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। ये सामान्य नियम ही द्वन्द्ववाद के नियम हैं। तर्कशास्त्र मानव चिंतन की गति के नियमों का विज्ञान है और चूंकि यह चिंतन वाह्य जगत का ही प्रतिबिंब होता है इसलिए इसके सामान्य नियम भी वही हैं जो वाह्य जगत के हैं। चूंकि वाह्य जगत में गति के विभिन्न रूपों का अध्ययन विशिष्ट विज्ञानों का कार्य बन जाता है और द्वन्द्ववाद गति के विभिन्न रूपों में मौजूद सामान्य नियमों का विज्ञान है इसलिए एंगेल्स कहते हैं कि दर्शन के लिए यदि कोई क्षेत्र बचा रहता है तो महज मानव चिंतन की गति का क्षेत्र यानी तर्कशास्त्र हालांकि यहां भी द्वन्द्ववाद के वही नियम कार्यरत होते हैं।

वाह्य जगत में भूत की गति के विभिन्न रूपों का अध्ययन विशिष्ट विज्ञान करते हैं। लेकिन सभी रूपों में कार्यरत सामान्य नियमों का कोई विशिष्ट विज्ञान नहीं है। पहले यह काम दर्शन के जिम्मे था। अब भौतिकवादी द्वन्द्ववाद के साथ इसकी जरूरत नहीं रह गयी है। द्वन्द्ववाद इन्हीं सामान्य नियमों का विज्ञान है। विभिन्न विशिष्ट विज्ञानों का विकास द्वन्द्ववाद को और ज्यादा समृद्ध करेगा क्योंकि वह सभी जगह कार्यरत सामान्य नियमों को और ज्यादा स्पष्टता के साथ सामने लायेगा।

केवल उपरोक्त अर्थों में ही कहा जा सकता है कि भौतिकवादी द्वन्द्ववाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शन है। यह साथ ही सर्वहारा का दर्शन है। असल में यह एक विश्व दृष्टिकोण है, सर्वहारा का विश्व दृष्टिकोण। यह प्रकृति, मानव समाज तथा चिंतन के प्रति द्वन्द्ववादी पहुंच रखता है और इन्हें उनकी भौतिकता में ग्रहण करता है। यह प्रकृति, मानव समाज तथा चिंतन के बारे में सभी या मूलभूत सवालों के जवाब हरगिज नहीं देता। यह तो महज यह बताता है कि इनके सवालों के प्रति कैसी पहुंच हो तथा इन्हें किस रूप में ग्रहण किया जाये या इनकी किस रूप में धारणा बनाई जाये। इनके सभी या मूलभूत सवालों के जवाब इसी पहुंच और धारणा से विशिष्ट अध्ययन के जरिये, ठोस चीजों का ठोस अध्ययन के जरिये हासिल किये जा सकते हैं। दूसरा और कोई रास्ता नहीं है। अपने मस्तिष्क से चिंतन के जरिये इन्हें ढूंढ़ निकालने का तो मतलब ही नहीं।

यह स्पष्ट है कि द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव समाज और चिंतन में कार्यरत सामान्य नियमों का विज्ञान है। अपने ठीक इसी चरित्र के कारण यह विभिन्न विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन की पहुंच को इंगित करता है या यह बताता है कि गति के विभिन्न रूपों के विशिष्ट अध्ययन के समय क्या पहुंच अपनाई जाये। लेकिन यह विशिष्ट अध्ययन की पहुंच को ही बताता है। यह ठोस अध्ययन को प्रतिस्थापित नहीं करता। यह बताता है कि गति के किसी भी रूप में अंततः वही आम नियम मिलेंगे क्योंकि सभी चीजें और प्रक्रियाएं अंततः वैसी ही होती हैं। लेकिन ठीक इसी कारण यह और जरूरी हो जाता है कि गति के विशिष्ट रूप का, चीज या प्रक्रिया का ठोस

अध्ययन किया जाये। केवल उनमें अंततः निहित सामान्य नियमों की जानकारी से उनके बारे में विशिष्ट तौर पर कुछ भी जानकारी हासिल नहीं होगी। ये सामान्य नियम तो हर जगह मौजूद हैं इसलिए उनका पुनर्कथन विशिष्ट तौर पर कहीं नहीं पहुंचायेगा। इसीलिए चीजों, प्रक्रियाओं का अध्ययन करते समय जरूरत सामान्य नियमों के हिसाब से निष्कर्ष निकालने की नहीं बल्कि सामान्य नियमों को ध्यान में रखते हुए उनका विशिष्ट अध्ययन करने की है जो अपनी बारी में यह दिखायेगा कि इनमें भी अंततः गति के वही सामान्य नियम काम करते हैं।

मार्क्स-एंगेल्स ने मानव समाज की गति के बारे में जब स्वयं इस द्वन्द्ववादी पद्धति को लागू किया तो वे इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा पर पहुंचे। पूंजीवादी समाज के विशिष्ट अध्ययन के आधार पर वे समाजवाद की अपनी अवधारणा पर पहुंचे जिसे उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद का नाम दिया। अपने सिद्धान्त को मार्क्स-एंगेल्स वैज्ञानिक समाजवाद का नाम यूं ही नहीं देते थे। उन्होंने मानव समाज के बारे में ठीक उसी वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया था जिसे अन्य विज्ञानों, खासकर प्रकृति विज्ञानों के लिए सही पद्धति मानते थे। यह पद्धति थी - द्वन्द्ववादी पहुंच के साथ चीजों, प्रक्रियाओं का ठोस अध्ययन। यह अंतिम निष्कर्ष में तथ्यों को ठूंसने या उनके हिसाब से तथ्य ढूंढ़ने की पद्धति नहीं थी बल्कि ठोस अध्ययन के द्वारा विशिष्ट निष्कर्षों और फिर अंतिम निष्कर्षों तक पहुंचने की पद्धति थी।

II
द्वन्द्ववाद के नियम

जैसा कि हमने 'लाल सलाम'-29 में प्रस्तुत एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन और माओ के विस्तृत उद्धरणों में देखा था, वे द्वन्द्ववाद के नियमों के बारे मे प्रकटतः अलग-अलग बातें करते हैं। जहां एंगेल्स द्वन्द्ववाद के तीन नियमों की बात करते हैं वहीं लेनिन एक, तीन और सोलह नियमों की बात करते हैं। स्टालिन चार नियमों की बात करते हैं तो माओ केवल एक की। क्या हमारे शिक्षकों में द्वन्द्ववाद के नियमों को लेकर वास्तव में इतना विभ्रम है? यह देखते हुए कि भौतिकवादी द्वन्द्ववाद हमारा विश्व दृष्टिकोण है, इसमें इतना विभ्रम फिर किसी भी मार्क्सवादी धारणा को विभ्रम मुक्त नहीं रहने देगा।

लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। हमारे सभी शिक्षक विभिन्न रूपों में मूलतः एक ही बात कह रहे होते हैं। इसे सबसे अच्छी तरह से लेनिन के इन शब्दों ने अभिव्यक्त किया था :

> "संक्षेप में द्वन्द्ववाद की वैपरीत्यों की एकता के सिद्धान्त के रूप में परिभाषा की जा सकती है। इसमें द्वन्द्ववाद का सार मूर्त है, परन्तु यह विवेचनों तथा विकास की अपेक्षा करता है।" (लाल सलाम-29 में पृष्ठ-31 पर उद्धृत)

लेनिन ने स्वयं 'विवेचन और विकास' के निष्कर्ष के तौर पर द्वन्द्ववाद के पहले तीन और फिर सोलह तत्वों को प्रस्तुत किया (देखें उपरोक्त उद्धरण)।

इन सोलह तत्वों में लेनिन ने बहुत स्पष्ट तौर पर 'परिमाण का गुण में संक्रमण तथा इसके उलट' को वैपरीत्यों की एकता और अपने विपरीत में संक्रमण का उदाहरण बताया था। यानी परिमाण का गुण में संक्रमण तथा गुण का परिमाण में संक्रमण वैपरीत्यों की एकता की एक ठोस अभिव्यक्ति है। यदि प्रवर्ग के तौर पर देखें तो यह परिमाण और गुण के दो विपरीतों की एकता है। (द्वन्द्ववाद के अन्य प्रवर्ग हैं : आम और विशिष्ट, सम्पूर्ण और अंश, सारतत्व और प्रतीयमानता, रूप और अंतर्वस्तु, कारण और कार्य, आधार और परिस्थिति, संभावना और वास्तविकता, आकस्मिकता और आवश्यकता, आवश्यकता और स्वतंत्रता, जंजीर और कड़ी इत्यादि)

एंगेल्स ने परिमाण के गुण और गुण के परिमाण में संक्रमण को द्वन्द्ववाद का एक बुनियादी नियम बताया था। पर लेनिन ने कहा कि यह महज वैपरीत्यों की एकता का एक उदाहरण है। स्वयं एंगेल्स इससे अनजान नहीं थे। इसी कारण उन्होंने द्वन्द्ववाद के तीन नियमों के आपसी संबंधों की बात कही थी।

विपरीत तत्वों की एकता के आम नियमों के अनुसार परिमाण और गुण के बीच भी एकता और संघर्ष दोनों होता है। दोनों का एक दूसरे के बिना अस्तित्व संभव नहीं। कोई भी ऐसी चीज नहीं है जिसका गुण और परिमाण दोनों न हों। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि एक गुण के रहते हुए परिमाण इससे किसी हद तक अन्यमनस्क रहता है यानी बिना गुण में परिवर्तन हुए परिमाण में परिवर्तन हो सकता है। पर यह एक सीमा के भीतर ही। इस सीमा के बाहर बिना गुण में परिवर्तन हुए परिमाण में परिवर्तन नहीं हो सकता और तब परिमाण में परिवर्तन गुण में परिवर्तन को जन्म देता है। परिमाण गुण में संक्रमण कर जाता है। इसी तरह गुण परिमाण में संक्रमण करता है।

विपरीत तत्वों की एकता के अन्य प्रवर्गों की तरह परिमाण और गुण की गति भी विशिष्ट रूप में संचालित होती है। इसे विशिष्ट रूप में ही समझा जाना चाहिए। लेकिन विपरीत तत्वों की एकता के आम नियम इन पर भी लागू होते हैं।

लेनिन की गवाही के कारण शायद इस बात पर ज्यादा विवाद न हो कि 'परिमाण और गुण' विपरीत तत्वों की एकता का ही एक उदाहरण है या इसी बुनियादी नियम की एक ठोस अभिव्यक्ति हैं। और चूंकि स्टालिन ने स्वयं अपने प्रसिद्ध लेख में इसका हवाला दिया है इसलिए विवाद और कम हो जाता है हालांकि माओ तब भी इसके दोषी बने रहते हैं कि उन्होंने 'अंतर्विरोध के बारे में' लेख में इसका कोई जिक्र नहीं किया।

मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन की असल आपत्ति 'निषेध का निषेध' नियम को लेकर है जिसका स्टालिन और माओ दोनों ने अपने प्रसिद्ध लेखों में कोई जिक्र नहीं किया (माओ ने तो एक जुबानी वार्ता में यहां तक कह दिया कि वे इस नियम को नहीं मानते) हालांकि लेनिन ने अपने सोलह तत्वों में इसे दो तत्वों के रूप में चिह्नित किया था-'निचली मंजिल के कतिपय लक्षणों, गुणधर्मों, आदि की ऊंची में पुनरावृत्ति और,' 'पुराने की ओर प्रतीयमान वापसी'।

क्या यह कहा जा सकता है कि 'निषेध का निषेध' भी वैपरीत्यों की एकता के बुनियादी नियम की एक ठोस अभिव्यक्ति है? क्या यह कहा जा सकता है कि 'निषेध का निषेध' वैपरीत्यों की एकता के बुनियादी द्वन्द्ववादी नियम से निकलने वाला एक व्युत्पन्न नियम है? क्या यह कहा जा सकता है कि 'निषेध का निषेध' नियम भी 'परिमाण के गुण में संक्रमण और इसका उलटा' नियम की तरह ही वैपरीत्यों की एकता के बुनियादी नियम के समकक्ष नहीं रखा जा सकता?

मसले को समझने के लिए आइये थोड़ा विस्तार में जायें।

मार्क्स की 'पूंजी' में 'निषेध का निषेध' के जिस हवाले ने ड्यूहरिंग- मिखाईलोव्स्की इत्यादि असाध्य अधिभूतवादियों को उत्तेजित किया तथा जिसने **ड्यूहरिंग मत खण्डन** में 'निषेध का निषेध' अध्याय को जन्म दिया वह अपने आप में रोचक है। भविष्य के कम्युनिस्ट समाज में सामूहिक सम्पत्ति की पुनर्स्थापना को 'साबित करने' के दृष्टिकोण से यह हवाला कोई बहुत संतोषजनक नहीं था। इससे ज्यादा संतोषजनक हवाला स्वयं एंगेल्स ने अपने उपरोक्त अध्याय में दिया। इसमें उन्होंने जमीन के व्यक्तिगत और सामूहिक मालिकाने के संदर्भ में इतिहास की आम गति का इस तरह वर्णन किया :

> "इतिहास में भी यही चीज देखने को मिलती है। सभी सभ्य कौमों में शुरू में भूमि पर सामूहिक स्वामित्व था। जितनी कौमें एक खास आदिम अवस्था से बाहर निकल आई हैं, उन सबके यहां सामूहिक स्वामित्व खेती के विकास के दौरान उत्पादन के लिए एक बन्धन बन जाता है। वह मिटा दिया जाता है; उसका निषेधन हो जाता है, और कुछ मध्यवर्ती अवस्थाओं के एक अपेक्षाकृत लम्बे या छोटे क्रम के बीतने के बाद वह निजी सम्पत्ति में रूपान्तरित हो जाता है। किन्तु जब खुद भूमि पर निजी स्वामित्व के फलस्वरूप खेती का विकास एक और भी ऊंची अवस्था में पहुंचता है, तो अब की बार उल्टी बात होती है और निजी सम्पत्ति उत्पादन के लिए बन्धन बन जाती है। आजकल छोटा तथा बड़ा दोनों भूमि स्वामित्व उत्पादन के लिए बन्धन बना हुआ है। तब लाजिमी तौर पर यह मांग उठती है कि इस निजी सम्पत्ति का भी निषेधन होना चाहिए, और एक बार फिर उसे सामूहिक सम्पत्ति में रूपान्तरित कर देना चाहिए। लेकिन इस मांग का अर्थ यह नहीं है कि आदिम ढंग के सामूहिक स्वामित्व की पुनः स्थापना की जाए; बल्कि इसका अर्थ यह है कि सामूहिक स्वामित्व के एक कहीं अधिक ऊंचे तथा विकसित रूप की स्थापना की जाये जो उत्पादन के रास्ते में रोड़े का काम नहीं करेगा, बल्कि जो इसके विपरीत पहली बार उत्पादन को तमाम बन्धनों से मुक्त कर देगा, और उसे आधुनिक रासायनिक खोजों तथा यांत्रिक आविष्कारों का पूर्ण उपयोग करने के योग्य बना देगा।" (मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978, प्रष्ठ-65)

इसमें आदिम साम्यवाद में जमीन के सामूहिक मालिकाने, वर्गीय समाजों में इसके निजी मालिकाने तथा फिर भविष्य के साम्यवाद में इसके सामूहिक मालिकाने का निषेध का निषेध के रूप में जिक्र किया गया है। इसे थोड़ा और व्यापक बना कर आदिम साम्यवाद में सामूहिक सम्पत्ति, वर्गीय समाजों मे निजी सम्पत्ति तथा भविष्य के साम्यवाद में फिर सामूहिक सम्पत्ति के रूप में और इस तरह निषेध का निषेध के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। असल में क्रांतिकारी कार्यकर्ता अपने लोकप्रिय प्रचार में इसे इसी तरह इस्तेमाल भी करते हैं।

इसीलिए यह लग सकता है कि जब ड्यूहरिग या मिखाईलोव्स्की सरीखे लोगों ने मार्क्स पर 'निषेध का निषेध' के द्वन्द्ववादी नियम के जरिये पूंजीवाद के खात्मे और समाजवाद की अनिवार्यता साबित करने का आरोप लगाया तो मार्क्स ने कुछ इसी तरह की बात की होगी। पर असल में मार्क्स इतिहास की एक भिन्न गति की चर्चा कर रहे थे जब उन्होंने 'निषेध का निषेध' का जिक्र किया।

मार्क्स इतिहास के एक छोटे से कालखण्ड की ही चर्चा कर रहे थे। वे वर्गीय समाजों में से एक, पूंजीवाद की उत्पत्ति और विकास की चर्चा कर रहे थे। यानी वे सामूहिक सम्पत्ति → निजी सम्पत्ति → सामूहिक सम्पत्ति के कालखण्ड की चर्चा नहीं कर रहे थे जिस पर 'निषेध का निषेध' सूत्र आसानी से फिट हो सकता है।

मार्क्स ने पूंजीवाद की उत्पत्ति के शुरुआती दौर में मौजूद छोटी निजी सम्पत्ति (दस्तकारों व किसानों की) की चर्चा की जिसमें उत्पादन और उपभोग दोनों निजी होता है। पूंजीवाद अपने विकास क्रम में इस निजी सम्पत्ति का निषेध कर देता है और एक ऐसी निजी सम्पत्ति पैदा करता है जिसमें उत्पादन के साधन तो वास्तव में सामाजिक चरित्र के होते हैं पर उत्पाद का हस्तगतकरण निजी बना रहता है। अपनी बारी में फिर इस पूंजीवादी निजी सम्पत्ति का विकास इसका भी निषेध कर देता है और ऐसी सामूहिक सम्पत्ति को जन्म देता है जिसमें उत्पादन के साधन सामूहिक होते हैं पर उपभोग निजी होता है। इस पूरी प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन करने के बाद मार्क्स इसे अंत में निषेध का निषेध के रूप में भी सूत्रित करते हैं।

सामूहिक सम्पत्ति → निजी सम्पत्ति → सामूहिक सम्पत्ति के सरल सूत्र के मुकाबले मार्क्स वास्तव में एक जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया को प्रस्तुत कर रहे हैं। सूत्र रूप में यह इस तरह होगा : छोटी निजी सम्पत्ति (उत्पादन के साधन और उपभोग दोनों निजी) → पूंजीवादी निजी सम्पत्ति (उत्पादन के साधनों का चरित्र सामाजिक लेकिन उनका मालिकाना निजी इसीलिए उत्पादन का हस्तगतकरण और उपभोग दोनों निजी) → समाजवादी सामूहिक सम्पत्ति (उत्पादन के साधन सामूहिक, उपभोग निजी)। क्या इस जटिल प्रक्रिया को आसानी से 'निषेध का निषेध' सूत्र में फिट किया जा सकता है या इसके उलट 'निषेध का निषेध' से इस जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया को साबित किया जा सकता है? यह असंभव है। केवल जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया का वस्तुगत, ठोस विश्लेषण ही इसकी गति को

उद्घाटित कर सकता था और ऐसा करने के बाद ही यह परिलक्षित हो सकता था कि कतिपय अर्थों में यह निषेध का निषेध की आम गति के अनुरूप है।

निषेध के निषेध के अनुसार ऊपरी मंजिल में निचली के कतिपय लक्षणों और गुणधर्मों की पुनरावृत्ति और पुराने की ओर प्रतीयमान वापसी होती है। प्रस्तुत दृष्टव्य में स्वभावतः ही इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निजी सम्पत्ति की ओर वापसी होगी पर वास्तव में केवल उपभोग की चीजों में निजी की ओर वापसी होती है, उत्पादन के साधनों में नहीं। 'इससे उत्पादन के लिए निजी सम्पत्ति की स्थापना नहीं होती, किन्तु उसे पूंजीवादी युग की उपलब्धियों पर आधारित व्यक्तिगत सम्पत्ति मिल जाती है'। ठोस ऐतिहासिक प्रक्रिया के विश्लेषण के बिना यह देख पाना सम्भव नहीं है कि वास्तव में यह इस तरह घटित होती है और निजी सम्पत्ति की वापसी केवल एक विशिष्ट, सीमित अर्थ में ही होती हैं इस तरह, ऊपरी मंजिल में निचली मंजिल के किन लक्षणों और गुणधर्मों की वापसी होगी यह बिना चीज या प्रक्रिया के ठोस विश्लेषण के बता पाना सम्भव नहीं है। 'निषेध का निषेध' सूत्र को लागू करना इसमें कोई मदद नहीं करेगा। यह विशुद्ध अटकलबाजी होगी। केवल एक बार ठोस विश्लेषण हो जाने के बाद ही यह बता पाना सम्भव हो सकेगा कि यह प्रक्रिया 'निषेध का निषेध' सूत्र का किस तरह और किस हद तक पालन करती है, कितना और किस तरह वह उसके हिसाब से घटित होती है।

इस ठोस उदाहरण में यदि निषेध का निषेध नियम की यह स्थिति है तो बाकी नियमों का क्या हाल है? असल में पूंजीवाद के ऐतिहासिक विकास की यह प्रक्रिया विचाराधीन समाजों में मौजूद आंतरिक अंतर्विरोधों के कारण घटित होती है। वे ही विकास की मूल प्रेरक शक्ति होते हैं। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का बुनियादी अंतर्विरोध इस गति को संचालित करता है। यह बुनियादी अंतर्विरोध कई अंतर्विरोधों को जन्म देता है। पूंजीवादी युग के पहले जो छोटा उद्योग पाया जाता है 'वह उत्पादन तथा समाज की केवल संकुचित और आदिम सीमाओं के साथ ही मेल खाता है, और एक खास अवस्था में पहुंचने पर वह खुद अपने विनाश के भौतिक आधार को जन्म दे देता है। यह विनाश, उत्पादन के बिखरे हुए तथा व्यक्तिगत साधनों का सामाजिक दृष्टि से संकेन्द्रित साधनों में रूपान्तरित हो जाना ही पूंजी का प्रारम्भिक इतिहास है'। यह पहला निषेध यानी छोटे उद्योग का निषेध क्यों हुआ? इसलिए कि वह उत्पादन तथा समाज की केवल संकुचित सीमाओं से मेल खाता था। जब उत्पादक शक्तियों का और विकास हो गया तो ये संकुचित सीमाएं बाधा बनने लगीं। इन सीमाओं का टूटना लाजिमी था और वे टूट गईं। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का टकराव यहां स्पष्ट है। यह प्रक्रिया अंत में एक हद से ज्यादा आगे बढ़ी तो मात्रा गुण में रूपान्तरित हो गई और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का आविर्भाव हो गया।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अस्तित्व में आने के बाद इसका आगे का विकास पूंजीवादी उत्पादन तथा छोटे पैमाने के उत्पादन के बीच टकराव तथा स्वयं पूंजीपतियों के बीच टकराव के जरिये हुआ। इन अंतर्विरोधों के विकास के कारण पूंजीवादी समाज का अपना मूलभूत अंतर्विरोध-सामाजिक उत्पादन और व्यक्तिगत हस्तगतकरण (जो बुनियादी अंतर्विरोध - उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच अंतर्विरोध की ही अभिव्यक्ति है) और तेजी से विकसित होता है जो एक ओर मुट्ठीभर पूंजीपतियों के हाथों में समाज की सारी सम्पत्ति के संकेन्द्रण तथा दूसरी ओर 'गरीबी, अत्याचार, गुलामी, पतन और शोषण में लगातार वृद्धि को जन्म देता है'। इस सबका अंतिम परिणाम दूसरे निषेध में, पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के निषेध में होता है-'उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रम का समाजीकरण अंत में एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जाते हैं, जहां वे पूंजीवादी खोल के भीतर नहीं रह सकते। खोल फाड़ दिया जाता है'। यहां भी मात्रा गुण में रूपान्तरित हो जाती है।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि दोनों निषेध संबंधित समाज में मौजूद अंतर्विरोधों के विकास के कारण ही होते हैं जिस दौरान मात्रा गुण में रूपान्तरित हो जाती है। चीजों में मौजूद अंतर्विरोधों के विकास और इस प्रक्रिया में मात्रा के गुण में रूपान्तरण से अलग निषेध को और निषेध का निषेध को नहीं समझा जा सकता। इसी से यह स्पष्ट है कि निषेध का निषेध विपरीतों की एकता के नियम का व्युत्पन्न है, यह इस नियम की एक ठोस अभिव्यक्ति है। इस तरह अंततः द्वन्द्ववाद के तीन नियमों में से एक ही बुनियादी नियम साबित होता, बाकी दो जिससे व्युत्पन्न होते हैं, बाकी दो जिसकी ठोस अभिव्यक्तियां हैं।

सूत्र रूप में बात करें तो किसी भी चीज या प्रक्रिया का चरित्र उसमें निहित प्रधान अंतर्विरोध के प्रधान पहलू से तय होता है। पर इस प्रधान अंतर्विरोध के दोनों पहलुओं के बीच लगातार संघर्ष चलता रहता है। इसके परिणाम स्वरूप प्रधान पहलू गौण में और गौण पहलू प्रधान में बदल जाता है। मात्रा गुण में रूपान्तरित हो जाती है, चीज अपने विपरीत में बदल जाती है। लेकिन जो नई चीज अस्तित्व में आती है उसके दोनों पहलुओं का चरित्र इस बीच इस विकास के परिणाम स्वरूप बदल चुका होता है। अपनी बारी में इस नयी चीज के दोनों पहलुओं के बीच संघर्ष चलता है और एक बार फिर मात्रा के गुण में रूपान्तरण के जरिये प्रधान पहलू गौण में और गौण पहलू प्रधान में बदल जाता है और एक बार फिर नयी चीज का जन्म होता है। इस तीसरी नयी चीज का प्रधान पहलू और इसीलिए इसका चरित्र कुछ मायने में पहली से मिलता-जुलता होगा-विपरीत का विपरीत के कारण। व्यापक तौर पर देखने पर अंतर्विरोधों के इस दोहरे समाधान के कारण, इस दोहरे निषेध के कारण प्रक्रिया निषेध का निषेध के रूप में नजर आयेगी।

लेकिन यह मामले का अपेक्षाकृत सरलीकरण है। यह समूची प्रक्रिया अपने परिवेश में घटित होती है जो इसके लिए शर्तों (conditions) का काम करता है। इसका मतलब है विभिन्न अन्य अंतर्विरोधों और उनकी अंदरूनी गतियों के साथ इसका संबंध। इसमें यह भी निहित है कि अंतर्विरोधों की गतियों के कारण प्रधान अंतर्विरोध गौण बन जाये और कोई दूसरा अंतर्विरोध प्रधान बन जाये या

फिर कोई अंतर्विरोध खत्म हो जाये अथवा कोई नया अंतर्विरोध पैदा हो जाये। इन सबकी समग्र गति के फलस्वरूप ही किसी चीज या प्रक्रिया का विकास होता है जो कई चरणों, उपचरणों में बंटी हो सकती है।

स्पष्ट है कि इस जटिल गति में निषेध का निषेध चीज या प्रक्रिया की ठोस गति के जरिये ही चिह्नित किया जा सकता है, किसी अमूर्त सूत्र को लागू करने के जरिये नहीं। यही ठोस विश्लेषण ही दिखायेगा की ऊपरी मंजिल में निचली मंजिल के किन लक्षणों, गुणधर्मों की और किस हद तक पुनरावृत्ति हो रही है।

III
द्वन्द्ववादी पद्धति

भौतिकवादी द्वन्द्ववाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमारा विश्व दृष्टिकोण भी है और हमारी पद्धति भी। वह एक साथ दोनों है। प्रकृति, मानव समाज और चिंतन के प्रति हमारी पहुंच द्वन्द्ववादी है। इसके खोज और विश्लेषण में भी हम इसी पहुंच को अपनाते हैं।

लेकिन अक्सर ही इस पद्धति का मतलब द्वन्द्ववाद के 'नियमों को लागू करने' के रूप में लगाया जाता है। **मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन** के लोगों में तो यह बहुत तीक्ष्णता से मुखर है। लाल सलाम -29 में उद्धृत इनके लेख में हमें ये शिक्षाप्रद बातें मिलती हैं :

> " ... निषेध का निषेध की यह अवधारणा है, जिस रूप में यह मार्क्स द्वारा सूत्रित किया गया था और मनुष्य व प्रकृति के इतिहास को समझने के लिए उनके द्वारा इस्तेमाल किया गया था।" (मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन, अंक-1, पृष्ठ-58)
>
> " ... मार्क्स ने निषेध का निषेध की अवधारणा का समाजवाद के सामाजिक-ऐतिहासिक तर्क की दार्शनिक व्याख्या के लिए इस्तेमाल किया था। ..." (वही, पृष्ठ-58)
>
> "... द्वन्द्ववाद का एक अत्यावश्यक और बुनियादी नियम, जिसका मानवता को अपने महानतम योगदान, समाजवाद का सिद्धान्त, तक पहुंचने में मार्क्स ने शानदार तरीके से इस्तेमाल किया ... ..." (वही, पृष्ठ-62)
>
> "... मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा ... ... उन दार्शनिक बुनियादों पर आधारित है जो 'निषेध का निषेध' की अवधारणा को दार्शनिक धरातल पर मानव के इतिहास में खोज और विश्लेषण के लिए द्वन्द्वात्मक पद्धति के एक बहुत जरूरी हिस्से के तौर पर लेता है।" (वही, पृष्ठ-65)

ये किसी संदेह की गुंजाइश नहीं छोड़ते। **मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन** का अभिप्राय स्पष्ट है।

जैसा कि हमने 'लाल सलाम'-29 में विस्तृत उद्धरण के जरिये बताया था, एंगेल्स का विचार इसके ठीक विपरीत था। पूंजीवादी उत्पादन की ऐतिहासिक प्रक्रिया के संदर्भ में उन्होंने अंत में यह कहा था :

> " अतएव, इस प्रक्रिया को निषेध का निषेध कहकर मार्क्स यह प्रमाणित नहीं करना चाहते कि यह प्रक्रिया ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक है। बात इसकी उलटी है। वह तो इतिहास के आधार पर यह प्रमाणित करते हैं कि वस्तुतः इस प्रकार की प्रक्रिया आंशिक रूप से सम्पन्न हो चुकी है, और आंशिक रूप से सम्पन्न होने वाली है। यह प्रमाणित करने के बाद ही वह उसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए यह कहते हैं कि यह ऐसी प्रक्रिया है, जो एक निश्चित द्वन्द्वात्मक नियम के अनुसार विकसित होती है। बस। इसलिए जब श्री ड्यूहरिंग यह घोषणा करते हैं कि यहां निषेध का निषेध अतीत के गर्भ में से भविष्य को जनवाने के लिए दाई का काम करता है या जब वह यह दावा करते हैं कि मार्क्स निषेध का निषेध में आस्था रखने के आधार पर लोगों को भूमि तथा पूंजी के सामुदायिक स्वामित्व का कायल करना चाहते हैं, तब एक बार फिर श्री ड्यूहरिंग महज तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश कर रहे होते हैं। " (लाल सलाम-29 में पृष्ठ-30 पर उद्धृत)

इस तरह एंगेल्स के अनुसार न तो मार्क्स निषेध का निषेध के नियम का इस्तेमाल कर पूंजीवाद के ऐतिहासिक विकास की खोज और विश्लेषण करते हैं और न ही इसके द्वारा इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यकता को साबित करते हैं। न ही इसके द्वारा वे किसी को कायल करना चाहते हैं। वह तो इतिहास के आधार पर, इस प्रक्रिया के विस्तृत विश्लेषण के आधार पर यह प्रमाणित करते हैं कि यह आंशिक रूप से सम्पन्न हो चुकी है और आंशिक रूप से सम्पन्न होने वाली है। यह सब करने के बाद ही वे यह बताते हैं कि यह एक निश्चित द्वन्द्वात्मक नियम के अनुसार विकसित होती है। ऐसा होना भी चाहिये क्योंकि प्रकृति, मानव समाज और चिन्तन सभी में अंततः वही सामान्य नियम, द्वन्द्ववाद के नियम काम करते हैं।

इस संदर्भ में लेनिन का भी एक उद्धरण देना लाभदायक होगा। लेनिन ने 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' में रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस का गहन और विस्तृत विश्लेषण किया था। पूरे विश्लेषण के बाद अंतिम निष्कर्षात्मक अध्याय - 'कुछ शब्द द्वन्द्ववाद के विषय में। दो क्रांतियां' - में वे यह कहते हैं :

> "हमारी पार्टी का संकट किस तरह बढ़ रहा है, उस पर एक आम दृष्टि डालते ही यह मालूम हो जायेगा कि कुछ महत्वहीन अपवादों को छोड़कर, मोटे तौर पर दोनों विरोधी पक्षों की बनावट में किसी भी अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह हमारी पार्टी के क्रांतिकारी पक्ष तथा अवसरवादी पक्ष का संघर्ष था। लेकिन यह संघर्ष विविधतम मंजिलों से गुजरा है, और इस संबंध में जो ढेरों साहित्य जमा हो चुका है, और इधर-उधर के आंशिक प्रमाणों, संदर्भ से अलग हुए अंशों, और अलग-थलग आरोपों, आदि के रूप में जो बहुत सा मसाला इकट्ठा हो गया है, उसमें यदि कोई जाना चाहता है तो उसके लिए जरूरी है कि वह इनमें से हरेक मंजिल की विशेषताओं की पूरी जानकारी हासिल करे।
>
> "आइये, हम खास-खास और एकदम साफ मंजिलों को गिना दें : (1) नियमावली की पहली धारा पर विवाद। संगठन के बुनियादी सिद्धान्तों पर विशुद्ध वैचारिक संघर्ष। प्लेखानोव और मैं अल्पमत में हैं। मार्तोव और अक्सेल्रोद एक अवसरवादी

मसौदा पेश करते हैं और अवसरवादियों की बाहों में पहुंच जाते हैं। (2) केन्द्रीय समिति के लिए उम्मीदवारों की सूचियों को लेकर 'ईस्क्रा'-संगठन में फूट : पांच की समिति में फोमिन को लिया जाये या वसील्येव को, अथवा तीन की समिति में त्रोत्स्की को रखा जाय या त्राविन्स्की को। मेरा और प्लेखानोव का (सात के खिलाफ नौ वोट से) बहुमत हो जाता है, जिसका एक आंशिक कारण खुद यह बात थी कि हम लोग पहली धारा के सवाल पर अल्पमत में थे। संगठन समिति वाली घटना से मेरे मन में जो सबसे भयानक आशंकाएं पैदा हुयी थीं, वे मार्तोव के अवसरवादियों के साथ संयुक्त मोर्चा बना लेने से सही सिद्ध हो गईं। (3) नियमावली की तफसीलों पर बहस का जारी रहना। अवसरवादी फिर मार्तोव को बचा लेते हैं। हम लोग फिर अल्पमत में हो जाते हैं और केन्द्रीय संस्थाओं में अल्पमत के लिए प्रतिनिधित्व का अधिकार पाने के लिए लड़ते हैं। (4) सात घोर अवसरवादी लोग कांग्रेस छोड़कर चले जाते है। हम बहुमत में हो जाते हैं और चुनाव में ('ईस्क्रा'-वादी अल्पमत, "दलदल" और 'ईस्क्रा-विरोधियों के) संयुक्त मोर्चे को हरा देते हैं। तीन-तीन सदस्यों के हमारे त्रिगुटों में मार्तोव और पोपोव स्थान स्वीकार करने से इंकार कर देते हैं। (5) कांग्रेस के बाद नये नाम जोड़ने के नाम पर थुक्का-फजीहत। अराजकतावादी आचरण और अराजकतावादी लफ्फाजी का नग्न नृत्य। अल्पमत के भीतर सबसे कम दृढ़ और सबसे कम स्थिर तत्वों का पलड़ा भारी हो जाता है। (6) पार्टी को फूट से बचाने के लिए प्लेखानोव "दया की मार से मारने" की नीति अपनाते हैं। "अल्पमत" केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक मण्डल और पार्टी काउन्सिल पर कब्जा कर लेता है और पूरी ताकत से केन्द्रीय समिति पर हमला करता है। हर चीज पर अब भी थुक्का-फजीहत का रंग छाया हुआ है। (7) केन्द्रीय समिति पर पहला हमला रोक दिया जाता है। थुक्का-फजीहत भी कुछ ठंडी पड़ती हुई मालूम होती है। पार्टी जिन दो शुद्धतः वैचारिक प्रश्नों के कारण अपनी गहराइयों तक उद्वेलित हो रही थी, अब उनपर अपेक्षाकृत शान्त वातावरण में बहस करना मुमकिन हो जाता है। वे दो प्रश्न ये थे : (क) दूसरी कांग्रेस में हमारी पार्टी का "बहुमत" और "अल्पमत" में जो विभाजन हो गया था और जिस विभाजन ने पहले के सभी विभाजनों का स्थान ले लिया उसका राजनीतिक महत्व और कारण क्या है? और (ख) संगठन के सवाल पर नये 'ईस्क्रा' ने जो नया रुख अपनाया है, उसका सिद्धान्त की दृष्टि से क्या अर्थ है?

"इनमें से हर मंजिल में संघर्ष की परिस्थितियां और हमले का तात्कालिक लक्ष्य सारतः भिन्न है; हर मंजिल मानो एक बड़े सैनिक अभियान के दौरान लड़ी गई एक अलग लड़ाई है। **जब तक हर लड़ाई की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक हमारे संघर्ष को बिलकुल नहीं समझा जा सकता। लेकिन एक बार यदि यह अध्ययन कर लिया जाये तो हम पायेंगे कि संघर्ष का विकास सचमुच द्वन्द्ववादी ढंग से, विरोधों के जरिये होता है** : अल्पमत बहुमत बन जाता है और बहुमत अल्पमत बन जाता है; हरेक पक्ष को कभी बचाव की लड़ाई लड़ते-लड़ते हमले की लड़ाई शुरू कर देनी पड़ती है, तो कभी हमला करते-करते बचाव की लड़ाई छेड़नी पड़ती है; वैचारिक संघर्ष के आंरभ (पहली धारा) का "निषेध होता है" और हर चीज पर थुक्का-फजीहत का रंग छा जाता है, लेकिन इसके बाद "निषेध का निषेध" आरंभ होता है, और विभिन्न केन्द्रीय संस्थाओं के न्यूनाधिक "शान्ति और मेल" के साथ रहने का कोई ढंग निकालने के बाद हम फिर प्रारंभिक बिन्दु पर, यानी विशुद्ध वैचारिक संघर्ष पर लौट आते हैं; लेकिन यहां पहुंचते-पहुंचते यह "वाद" "प्रतिवाद" के समस्त परिणामों से समृद्ध हो गया है और वह एक अधिक ऊंचा "संवाद" बन गया है जिसमें पहली धारा को लेकर होने वाली एक अलग-थलग, आकस्मिक गलती ने संगठन संबंधी अवसरवादी विचारों की एक दिखावटी प्रणाली का सा रूप धारण कर लिया है, और जिसमें हमारी पार्टी के क्रांतिकारी पक्ष तथा अवसरवादी पक्ष में बंट जाने का इस तथ्य से जो संबंध है, वह सबके सामने स्पष्ट होता जाता है। संक्षेप में, न केवल जई हेगेल के बताये हए नियमों के अनुसार उगती है, बल्कि रूसी सामाजिक जनवादी भी हेगेल के नियमों के अनुसार ही आपस में लड़ते हैं।

"लेकिन महान हेगेलीय द्वन्द्ववाद को, जिसे मार्क्स ने पहले उल्टे से सीधा कर स्वीकार किया है उन राजनीतिज्ञों की, जो पार्टी के क्रांतिकारी पक्ष से अवसरवादी पक्ष की ओर झुक जाते हैं, टेढ़ी-मेढ़ी चाल को उचित ठहराने की भौंड़ी तिकड़म के साथ, अलग स्पष्ट बयानों और एक ही प्रक्रिया की अलग-अलग अवस्थाओं के विकास के दौरान होने वाली अलग-अलग स्पष्ट घटनाओं को एक ढेर में इकट्ठा कर देने की भद्दी आदत के साथ कभी नहीं गड़बड़ाना चाहिए। **सच्चा द्वन्द्ववाद** वैयक्तिक गलतियों को उचित नहीं ठहराता, बल्कि **विकासक्रम में आने वाले लाजिमी मोड़ों का अध्ययन करता है और विकास की क्रिया का उसके बिलकुल ठोस रूप में विस्तार के साथ अध्ययन करके यह सिद्ध करता है कि ये मोड़ अवश्यम्भावी थे। द्वन्द्ववाद का बुनियादी सिद्धान्त यह है कि अमूर्त सत्य जैसी कोई चीज नहीं होती, सत्य सदा ठोस होता है ... ... "**
(लेनिन, एक कदम आगे, दो कदम पीछे, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड, नयी दिल्ली, 2011, पृष्ठ-304-07 शब्दों पर जोर हमारा)

लेनिन दूसरी पार्टी कांग्रेस और उसके बाद पार्टी में चलने वाले अंतः पार्टी संघर्ष की विस्तृत छान-बीन और विश्लेषण करने के बाद अंत में उसे सारसंक्षेप में पेश करते हैं तथा यह कहते हैं कि इस संघर्ष का विकास द्वन्द्ववादी ढंग से हुआ। यानी उन्हीं सामान्य नियमों के अनुसार जो प्रकृति, मानव समाज और चिन्तन सभी में पाये जाते हैं।

यहां यह गौरतलब है कि लेनिन जिस "निषेध का निषेध" का जिक्र करते हैं उसकी ठोस अध्ययन के बिना कल्पना करना संभव नहीं है। आखिर विशुद्ध वैचारिक संघर्ष का थुक्का-फजीहत द्वारा निषेध क्यों होना चाहिए? और फिर इस थुक्का-फजीहत का और भी ऊंचे स्तर के वैचारिक संघर्ष के द्वारा निषेध क्यों होना चाहिए? केवल अंतः पार्टी संघर्ष के ठोस अध्ययन के द्वारा ही यह देखा और दिखाया जा सकता था कि ऐसा हुआ था।

और अपने इस सार-संकलन में लेनिन इसी ठोस अध्ययन पर बार-बार जोर देते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि द्वन्द्ववाद का बुनियादी सिद्धान्त यह है कि अमूर्त सत्य जैसी कोई चीज नहीं होती, सत्य सदा ठोस होता है। और यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उसे कम से कम द्वन्द्ववादी पद्धति तो नहीं कहा जा सकता।

ठोस अध्ययन तथा उससे निष्कर्ष और इस निष्कर्ष का द्वन्द्ववाद के नियमों के रूप में सूत्रीकरण का एक और उदाहरण देना फायदेमंद होगा। यह उदाहरण भी **ड्यूहरिंग मत खण्डन** से लिया गया है पर 'परिमाण और गुण' अध्याय से। इस उदाहरण में एक बार फिर ड्यूहरिंग मार्क्स पर आरोप लगाते हैं कि मार्क्स हेगेलीय धारणाओं से कुछ साबित करना चाहते हैं। मसला मुद्रा की एक निश्चित राशि के पूंजी में रूपान्तरण का है जिसमें परिमाण गुण में बदल जाता है। एंगेल्स ड्यूहरिंग का यह उद्धरण - 'इस भ्रान्त एवं अस्पष्ट हेगेलीय विचार की चर्चा करने से कैसा हास्यास्पद प्रभाव पैदा होता है कि परिमाण गुण में बदल जाता है, और इसलिए जब एक पेशगी रकम एक निश्चित आकार प्राप्त कर लेती है, तो केवल इस परिमाणात्मक वृद्धि के द्वारा ही वह पूंजी बन जाती है' - देने के बाद लिखते हैं :

"श्री ड्यूहरिंग ने इस बात को जिस 'विशोधित' रूप में प्रस्तुत किया है उससे निश्चय ही काफी अजीब प्रभाव पैदा होता है। पर हम यह देखें कि मार्क्स की मूल रचना में इसका क्या रूप है। मार्क्स ने पृष्ठ-313 पर ('पूंजी' द्वितीय संस्करण) अचल और चल पूंजी तथा बेशी मूल्य का विवेचन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि 'मुद्रा की या मूल्य की हर रकम को इच्छानुसार पूंजी में नहीं बदला जा सकता। इस प्रकार का रूपान्तरण करने के लिए, असल में यह जरूरी होता है कि जो व्यक्ति मुद्रा अथवा मालों का मालिक है, उसके हाथ में पहले से ही कम से कम एक निश्चित मात्रा में मुद्रा अथवा विनिमय मूल्य विद्यमान हो'। मार्क्स ने उद्योग की किसी भी शाखा के उस मजदूर का उदाहरण दिया है, जो हर रोज आठ घंटे खुद अपने लिए-अर्थात अपनी मजूरी का मूल्य पैदा करने के लिए-काम करता है और बाकी चार घंटे पूंजीपति के लिए, उस बेशी मूल्य को पैदा करने के लिए काम करता है, जो तुरंत पूंजीपति की जेब में चला जाता है। इस सूरत में रोजाना इतना बेशी मूल्य जेब में डालने के लिए जिससे आदमी अपने एक मजदूर के समान जीवन बिता सके, उसके पास मूल्यों की कम से कम वह मात्रा होनी चाहिए, जो दो मजदूरों के लिए कच्चा माल, श्रम के औजार और मजूरी मुहैय्या करने के लिए काफी हो। और चूंकि पूंजीवादी उत्पादन का उद्देश्य केवल जिन्दा रहना नहीं होता, बल्कि उसका उद्देश्य धन की वृद्धि करना होता है, इसलिए हमारा यह आदमी दो मजदूरों से काम लेने पर भी पूंजीपति नहीं बन पायेगा। एक साधारण मजदूर से दुगुना अच्छा जीवन बिताने के लिए, और जितना बेशी मूल्य पैदा होता है, उसके आधे भाग को फिर पूंजी में बदल देने के लिए उसे आठ मजदूरों को नौकर रखने के काबिल बनना पड़ेगा। अर्थात उसके पास हम ऊपर जितनी रकम मान कर चले थे, उसकी चार गुनी रकम होनी चाहिए। और इतना सब कुछ कह चुकने के बाद तथा इस तथ्य का और अधिक स्पष्टीकरण तथा पुष्टि करने के बाद कि मूल्यों की हर छोटी-मोटी रकम पूंजी में बदले जाने के लिए पर्याप्त नही होती, बल्कि इस दृष्टि से विकास के प्रत्येक काल के लिए तथा उद्योग की प्रत्येक शाखा के लिए एक निश्चित अल्पतम रकम आवश्यक होती है, मार्क्स ने लिखा है कि 'प्राकृतिक विज्ञान की तरह यहां भी ('तर्कशास्त्र' में) हेगेल द्वारा अविष्कृत उस नियम की सत्यता **सिद्ध हो जाती है** कि केवल परिमाणात्मक भेद एक बिन्दु से आगे पहुंचकर गुणात्मक परिवर्तनों में बदल जाते हैं"।

"और अब पाठक जरा उस उच्चतर एवं महानतर शैली को देखें, जिसके प्रताप से मार्क्स ने सचमुच जो कहा था, श्री ड्यूहरिंग ने उसकी बिलकुल उलटी बात उनके मुंह में रख दी है। मार्क्स ने कहा है कि यह तथ्य कि मूल्यों की कोई रकम उसी समय पूंजी में बदली जा सकती है, जब वह एक निश्चित आकार प्राप्त कर लेती है; और यह आकार परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, मगर हर अलग-अलग सूरत के लिए एक निश्चित अल्पतम आकार आवश्यक होता है- यह तथ्य हेगेलीय नियम की **सत्यता का प्रमाण** हैं। लेकिन श्री ड्यूहरिंग ने मार्क्स के मुंह में यह बात रख दी है कि **चूंकि** हेगेलीय नियम के अनुसार परिमाण गुण में बदल जाता है, **'इसलिए** जब एक पेशगी रकम एक निश्चित आकार प्राप्त कर लेती है, तो वह पूंजी बन जाती है'। अर्थात उन्होंने बिलकुल उलटी बात मार्क्स के मुंह में रख दी है।" (फ्रेडरिक एंगेल्स, ड्यूहरिंग मत खण्डन, प्रगति प्रकाशन मास्को, 1980, पृष्ठ-200-01, जोर मूल में)

एक बार फिर स्पष्ट है कि मार्क्स द्वन्द्ववाद के नियमों का इस्तेमाल कर कुछ साबित करने के बदले ठीक उलटा करते हैं। वे संबंधित चीज का ठोस विश्लेषण कर उससे निष्कर्ष निकालते हैं और फिर यह चिह्नित करते हैं कि परिघटना द्वन्द्ववाद के किसी नियम के अनुरूप घटित हो रही है और एक बार फिर यह कहना होगा कि ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि द्वन्द्ववाद कुछ और नहीं बल्कि प्रकृति, मानव समाज और चिंतन में कार्यरत सामान्य नियमों का विज्ञान है। कोई भी चीज या परिघटना अपनी सामान्य गति में इन नियमों के परे नहीं हो सकती। लेकिन अपने आप को सामान्य नियमों तक सीमित कर लेना या सामान्य नियमों से चीज या परिघटना में कार्यरत विशिष्ट नियमों को खोजना किसी भी तरह से द्वन्द्ववादी पद्धति नहीं होगी।

द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव समाज और चिंतन में कार्यरत सामान्य नियमों का विज्ञान है जबकि प्रत्येक विशिष्ट विज्ञान इनमें कार्यरत गति के विशिष्ट रूपों का विज्ञान होता है द्वन्द्ववाद भूत की सामान्य गति को उद्घाटित करता है, उस सामान्य गति को जो भूत के सभी रूपों में होती है चाहे वह प्रकृति से संबंधित हो या फिर मानव समाज या मानव चिंतन से। इसके मुकाबले प्रत्येक विशिष्ट विज्ञान भूत की गति के किसी निश्चित रूप के नियमों को उद्घाटित करता है। इस तरह यहां संबंध सामान्य और विशिष्ट का है। द्वन्द्ववाद सामान्य से संबंधित है जबकि विशिष्ट विज्ञान विशिष्ट से। सामान्य और विशिष्ट के अंतर्विरोध के सारे नियम यहां भी काम करते हैं यानी द्वन्द्ववाद के प्रवर्ग यहां भी मौजूद हैं, स्वयं द्वन्द्ववाद के संदर्भ में भी। सामान्य विशिष्ट के बिना अस्तित्वमान नहीं हो सकता। वह विशिष्ट में ही मौजूद होता है और उसी से निकलता है। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि विशिष्ट, आंशिक रूप से ही सही, सामान्य का हिस्सा होता है।

सामान्य का संबंध अमूर्त से है जबकि विशिष्ट का ठोस से। इसीलिए सामान्य तक केवल ठोस के जरिये ही पहुंचा जा सकता है। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि ठोस के प्रति सही पहुंच के लिए सामान्य जरूरी है।

इस तरह विश्लेषण के समय दोनों तरह की गलतियां हो सकती हैं। एक ओर बिना सामान्य का ध्यान किये केवल ठोस पर केन्द्रित किया जा सकता है। यह अनुभववादी (Empiricist) पद्धति है जो अक्सर प्रकृति विज्ञान के वैज्ञानिकों में मिलती है। दूसरी ओर ठोस का विश्लेषण न कर तथ्यों को सामान्य में ठूंसा जा सकता है या सामान्य से निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यह जड़सूत्रवादी पद्धति है जो अक्सर भौंडे मार्क्सवादियों में पायी जाती है।

सामान्य (द्वन्द्ववाद) और विशिष्ट (विशिष्ट विज्ञान या उसका विशिष्ट क्षेत्र) का यह संबंध यह दिखाता है कि द्वन्द्ववाद के नियमों में विपरीतों की एकता के नियम का क्या स्थान है। इसके बिना ठीक द्वन्द्ववादी पद्धति को भी सही तरह से न तो समझा जा सकता है और न अपनाया जा सकता है।

IV

हमारी समस्याएं

मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन के लोग 'निषेध का निषेध' को विकास का बुनियादी नियम तथा द्वन्द्ववाद का सबसे अत्यावश्यक नियम यूं ही नहीं घोषित करते। इसका उनके लिए विशिष्ट निहितार्थ है। यही नहीं, जिसे वे द्वन्द्ववादी पद्धति कहते हैं उसका भी निहितार्थ है क्योंकि इसके द्वारा वे आज के कम्युनिस्ट आंदोलन की समस्याओं को हल करना चाहते हैं।

उनके लेखे आज के कम्युनिस्ट आंदोलन की बुनियादी समस्या है मार्क्सवादी सिद्धान्त का विकास। इनके अनुसार 1930 के दशक से इसमें कोई विकास नहीं हुआ है और जब तक यह नहीं होता तब तक कम्युनिस्ट आंदोलन में कोई विकास नहीं हो सकता। न तो सभी देशों में एकल कम्युनिस्ट पार्टियां अस्तित्व में आ सकती हैं और न ही सर्वहारा क्रांति आगे बढ़ सकती है।

जब वे समस्याओं को ठोस रूप प्रदान करते हैं तो वे मूलतः दो बिन्दुओं तक सिमट जाती हैं। एक है मार्क्सवादी दर्शन में, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में स्टालिन और माओ द्वारा लाई गई विकृति तथा दूसरा है मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धान्तों में सर्वहारा पार्टी और सर्वहारा वर्ग के बीच सही संबंधों का अभाव। बाकी सारी समस्याएं इनसे पैदा होती हैं। पहली समस्या पर **मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन** के अंक-1 में एक लेख है तो दूसरी समस्या पर अंक-1 में सोवियत समाजवाद पर बात के जरिये तथा अंक-2 में चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति पर बात के जरिये चर्चा की गयी है। अंत में अंक-3 में इसे सीधे संबोधित करता हुआ एक लेख है।

पहले अंक का सम्पादकीय अपने अंत में सीधे-सीधे निषेध का निषेध के जरिये मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास की बात करता है और आह्वान करता है कि इसे कम्युनिस्टों द्वारा अपने ऐजेण्डे पर ले आया जाना चाहिए।

अब 'मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन' के 'निषेध का निषेध' सिद्धान्त को और उनके आह्वान को शाब्दिक अर्थों में लिया जाये तो तस्वीर कुछ इस तरह बनती है :

मार्क्सवादी दर्शन यानी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मार्क्स और एंगेल्स द्वारा विकसित किया गया था। इस दर्शन का स्टालिन और माओ ने अपनी गलत समझदारी के जरिये निषेध कर दिया (और लेनिन ने भी क्योंकि स्टालिन व माओ ने खुद को लेनिन पर ही आधारित किया था)। अब जरूरत इस बात की है कि इस निषेध का निषेध किया जाये और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को नयी ऊंचाई पर ले जाया जाये क्योंकि इस बीच प्रकृति विज्ञान ने बहुत प्रगति कर ली है (और साथ ही मानव समाज व उसके ज्ञान ने भी)।

इसी तरह मार्क्स-एंगेल्स ने मजदूर वर्ग की पार्टी का एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। इस सिद्धान्त का लेनिन द्वारा निषेध कर दिया गया क्योंकि उन्होंने सर्वहारा पार्टी की अपनी नयी अवधारणा प्रस्तुत की। स्टालिन और माओ ने लेनिन की समझदारी पर चलते हुए उसमें निहित अंतर्विरोधों को ही परिणति तक पहुंचाया अब जरूरत इस बात की है कि इस निषेध का निषेध किया जाये और सर्वहारा पार्टी की ऐसी धारणा प्रस्तुत की जाये जो पहले की धारणा से (मार्क्स-एंगेल्स की धारणा से) ऊंची हो।

मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन के लोगों को उनके द्वारा प्रस्तुत समस्याओं का यह सूत्रीकरण संभवतः नागवार गुजरे। यह उन्हें विद्रूप (caricature) भी लग सकता है। पर मसले का सारतत्व यही है। इस रूप में सूत्रीकरण उनकी सोच की दिक्कतों को बहुत तीखे ढंग से उजागर कर देता है जिसे वे शायद स्वयं से भी न स्वीकार करना चाहें।

असल में **मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन** की निषेध का निषेध के बारे में समझ अधिभूतवादी और भाववादी है। यह समझ निषेध को वाह्य निषेध के रूप में लेती है। कोई चीज या प्रक्रिया का निषेध कोई दूसरी चीज या प्रक्रिया कर देती है। फिर कोई तीसरी इस दूसरी का निषेध कर देती है। यह दूसरा या तीसरा कहां से आता है, पता नहीं। इसकी तो केवल अटकलबाजी ही की जा सकती है और यहीं अधिभूतवाद भाववाद से सम्बद्ध हो जाता है। यहां पूरी गुंजाइश पैदा हो जाती है कि तथ्यों का मनमाना चयन किया जाये और मनमाने निष्कर्ष निकाले जायें।

इसके विपरीत निषेध का निषेध की वास्तविक प्रक्रिया आंतरिक होती है- चीज या प्रक्रिया के अंतर्भूत अंतर्विरोधों के कारण। इस तरह निषेध या निषेध का निषेध आंतरिक होता है। इसीलिए जरूरी होता है कि स्वयं चीज या प्रक्रिया का ठोस अध्ययन किया जाये और उसमें निहित अंतर्विरोधों को चिह्नित किया जाये। बल्कि हेगेल की भाषा में कहें तो स्वयं निर्धारण ही अंतर्भूत अंतर्विरोधों को सामने ले आयेगा। अंतर्विरोधों को अलग से खोजने या चिह्नित करने की जरूरत नहीं। सही द्वन्द्ववादी पद्धति यही है।

मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन की द्वन्द्ववाद और द्वन्द्ववादी पद्धति के बारे में गलत समझ वास्तविक समस्याओं के मामले में उन्हें भाववादी, अटकलबाजी से भरी हुई नुस्खाई नतीजों तक ले जाती है। समाजवाद में ऐसा-ऐसा होना चाहिए था क्योंकि मार्क्सवाद के आम सिद्धान्त ऐसा कहते हैं। पर सोवियत संघ या चीन में ऐसा नहीं हुआ। इसलिए वे असफल हो गये। भविष्य में इससे बचने के लिए अमुक-अमुक नुस्खे अपनाये जाने चाहिए।

इस सबमें 'इन समाजों' की गतियों का ठोस अध्ययन ही नदारद होता है या फिर उसमें सूत्रों के हिसाब से तथ्य छांटे और ठूंसे गये होते हैं जिससे कि मनचाहे निष्कर्ष निकल सकें। यह चयन इस हद तक मनमाना होता है कि जिन गलतियों को स्टालिन या माओ में बार-बार रेखांकित किया जाता है उनके मूल स्रोत को लेनिन में देखने से इंकार किया जाता है।

एक बार फिर यह कहना होगा कि विपरीतों की एकता के प्रतिफलन से अलग निषेध का निषेध सूत्र का वाह्य निषेध के रूप में प्रयोग मनमाने निष्कर्षों के लिए रास्ता खोलता है और शायद इसीलिए **मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन** का इसके प्रति इस कदर झुकाव है।

जहां तक हमारा सवाल है हम मसले को इस तरह नहीं देखते। हम स्वयं भी यह मानते हैं कि मार्क्सवाद एक विज्ञान है और एक विज्ञान के तौर पर इसका भी सतत विकास होता है। यह पहले भी होता रहा है और आगे भी होगा। यह सामान्य बात है या मसले का सामान्य पहलू है। मसले के विशिष्ट पहलू पर बात करें तो इसमें कोई दो राय नहीं कि कम्युनिस्ट आंदोलन के पिछले करीब पौने दो सौ सालों में तथा खासकर समाजवादी समाजों के निर्माण में कई सवाल उठे जिनके और भी सटीक उत्तर दरकार हैं। यह अमूर्त बात है। ठोस बात यह है कि ये उत्तर हासिल कैसे किये जायें? ज्यादा सटीक उत्तर पाने का तरीका क्या होगा?

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार ज्ञान का विकास व्यवहार-ज्ञान-व्यवहार के जरिये होता है। और ऊंचे स्तर का व्यवहार ज्ञान को और ऊंचे धरातल पर ले जाता है जो अपनी बारी में और भी ऊंचे व्यवहार के लिए दिशा प्रदान करता है। इस अंतर्विरोध में आम तौर पर व्यवहार प्रधान होता है पर किन्हीं मौकों पर ज्ञान प्रधान हो जाता है।

इन सामान्य सिद्धान्तों की रोशनी में हम यदि अपनी समस्याओं को देखें तो क्या पाते हैं? सोवियत समाजवाद में और फिर चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति में कम्युनिस्ट आंदोलन के व्यवहार ने नयी-नयी ऊंचाइयां ग्रहण कीं। स्टालिन और माओ जैसे नेताओं ने, खासकर माओ ने इनका सार संकलन भी किया। यह सार संकलन अब हमारे पास मौजूद है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा का हिस्सा है।

अब यदि ज्ञान के इस स्तर को और ऊंचा उठाना है तो या तो पहले से ज्यादा ऊंचे स्तर का व्यवहार किया जाये (किसी साम्राज्यवादी देश में क्रांति और समाजवाद का निर्माण अथवा और भी बड़े पैमाने की क्षेत्रीय क्रांतियां और वहां समाजवाद निर्माण। साथ ही महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति किस्म के प्रयोग) या फिर पहले के व्यवहार का ही और ऊंचा व बेहतर सार संकलन किया जाये। पहले की हाल फिलहाल संभावना नहीं है और दूसरे को कर पाने की स्थिति नहीं है क्योंकि अनुभवहीन और अपरिपक्व कम्युनिस्ट आंदोलन और उसका नेतृत्व इसके लिए सक्षम नहीं हो सकता।

इस ठोस स्थिति के बरक्स यह तर्क दिया जाता है कि प्रकृति विज्ञान के विकास और पूंजीवादी समाज के आम विकास ने वह कच्ची सामग्री मुहैय्या कराई है जिससे नये नतीजों तक पहुंचा जा सकता है। पर वह सवाल तो तब भी मौजूद रहता है कि सार-संकलन करने के लिए सक्षम लोग कहां हैं और वे कहां से पैदा होंगे? क्या वर्तमान अपरिपक्व और अनुभवहीन हाथों में ही बटेर लग सकता है?

एक-दो उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी। ये उदाहरण भी मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन द्वारा उठाये गये मुद्दों से संबंधित हैं।

भौतिकवादी द्वन्द्ववाद में लेनिन का योगदान 1914-15 का है जब लेनिन ने एक बार फिर दर्शन का, खासकर हेगेल का गहन अध्ययन किया। प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत के भीषण वर्षों में लेनिन दर्शन के गहन अध्ययन की ओर क्यों मुड़े? क्योंकि दूसरे इंटरनेशनल का बहुत शर्मनाक ढंग से पतन हो गया था और विश्व का मजदूर आंदोलन एक गहरे संकट से गुजर रहा था। पर लेनिन अपने अध्ययन के द्वारा द्वन्द्ववाद में योगदान क्यों कर सके? क्योंकि दूसरे इंटरनेशनल के समूचे व्यवहार के साथ उनके जैसा परिपक्व और अनुभवी नेतृत्व मौजूद था। दोनों में से किसी एक की अनुपस्थिति द्वन्द्ववाद को मार्क्स-एंगेल्स से आगे नहीं ले जा सकती थी। यह इससे भी स्पष्ट है कि पांच-छः साल पहले लिखी उनकी पुस्तक **भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना** में अभी द्वन्द्ववाद का यह विकास नहीं है।

इसी तरह माओ द्वन्द्ववाद के विकास में अपना योगदान तभी दे पाये जब चीनी क्रांति 1927-35 के संकट से गुजर चुकी थी और जापानी हमले के रूप में एक और भीषण चुनौती सामने मौजूद थी। लेकिन साथ ही यह भी था कि इसके लिए माओ के पास पर्याप्त अनुभव और परिपक्वता थी। इसके बिना माओ वह नहीं कर सकते थे।

पार्टी के बारे में लेनिन की धारणा पर गौर करें तो दूसरे इंटरनेशनल के पतन तक लेनिन पार्टी की अपनी अवधारणा को रूस की विशिष्ट स्थितियों की उपज मानते थे। बाकी देशों के लिए तो वे जर्मन पार्टी को ही उदाहरण मानते थे। पर दूसरे इंटरनेशनल के पतन और रूस की सफल अक्टूबर क्रांति ने उन्हें इस नतीजे पर पहुंचाया कि 'क्या करें' और 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' में प्रस्तुत पार्टी की अवधारणा ही सभी सर्वहारा पार्टियों के लिए सही अवधारणा है। केवल इस ऊंचे स्तर का व्यवहार तथा लेनिन जैसे अनुभवी और परिपक्व नेतृत्व द्वारा सार-संकलन ही सर्वहारा पार्टी की इस आम धारणा तक पहुंचा सका।

द्वन्द्ववाद और सर्वहारा पार्टी की धारणा में उपरोक्त विकास द्वन्द्ववाद के नियमों के अनुरूप ही हुआ पर किसी अमूर्त सूत्र को लागू करने के जरिये नहीं और न ही किसी नुस्खे के जरिये। साथ ही यह मार्क्सवाद के सिद्धान्त में विकास के किसी अमूर्त, हवाई लक्ष्य को सामने रख कर नहीं किया गया।

मार्क्सवादी सिद्धान्त का विकास बहुत नेक काम है। पर इस नेक काम को करने की पूर्व शर्तें कहां हैं? क्या यह जरूरी नहीं है कि पहले ये पूर्व शर्तें ही पूरी की जायें?

आज का हमारा मुख्य कार्यभार किसी अमूर्त, हवाई लक्ष्य यानी मार्क्सवाद के सिद्धान्त में विकास का नहीं है। आज का हमारा कार्यभार है बदली हुयी देश-दुनिया की ठोस स्थितियों में क्रांति की रणनीति और रणकौशल विकसित करना। मार्क्सवाद के आम सिद्धान्त इसके लिए पर्याप्त विकसित है। यदि हम मार्क्सवाद के आम सिद्धान्तों पर खुद को दृढ़ता से स्थापित करते हुए आज की ठोस स्थितियों के हिसाब से क्रांति की रणनीति और रणकौशल विकसित करते हैं तो हम एकल कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण के काम को अंजाम दे सकेंगे और सर्वहारा इंकलाब की ओर बढ़ सकेंगे। क्रांति का आगे का विकास, खासकर सत्ता पर कब्जा करने के बाद का विकास विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के सामने जो चुनौतियां पेश करेगा उनसे जूझते हुए मार्क्सवादी सिद्धान्तों में आगे का विकास होगा। भविष्य में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के विकास की यही ठोस प्रक्रिया होगी।

मार्क्सिस्ट इंटेलेक्शन द्वारा बहु प्रशंसित नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) का सकारात्मक और नकारात्मक अनुभव भी इसकी तस्दीक करता है। जब उन्होंने नेपाल की क्रांति के लिए सही रणनीति और रणकौशल विकसित किया तो यह क्रांति छलांग लगाकर आगे बढ़ गई। पर जब अपनी सफलता से उत्साहित होकर उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों में विकास का अमूर्त लक्ष्य सामने रख लिया तो उन्होंने वह उखाड़-पछाड़ की कि उसके परिणामस्वरूप उनकी स्वयं की क्रांति भी खड्ड में जा फंसी। नेपाल की क्रांति के खड्ड में फंसने का यही मनोगत आधार है। यदि उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्त में कोई 'विकास' किया तो यह महज संशोधनवादी विकृतीकरण साबित हुआ। इससे न केवल वैचारिक विभ्रम फैला बल्कि नेपाल की क्रांति को बेहद नुकसान हुआ। कभी (2006) दस साल में प्रचंड पथ को प्रचण्डवाद तक पहुंचाने की बात करने वाले लोगों में अब प्रचंड पथ भी विस्मृत हो चुका है।

बेहतर होगा कि हम विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन के इस हाल के अनुभव से सबक लें।

■■■